पढ़ना ज़रा ठहरना... ठहरना ज़रा सोचना!

अनिल सिंह

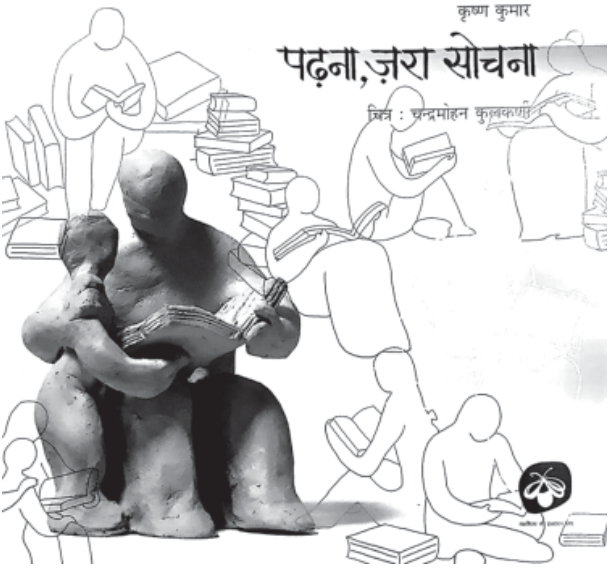

चित्र इंटरनेट से साभार

पढ़ना ज़रा सोचना शीर्षक से एक अद्भुत किताब आई है जो शिक्षा के बड़े दायरे में पढ़ने और सोचने-समझने से जुड़े कुछ बहुत ही बुनियादी सवाल उठाती है, साथ ही उस पर विस्तार से आपसी बात भी करती है। आपसी बात इसलिए कि इसमें लेखक कोई पक्षकार नहीं बनता और न पाठक को पक्षकार बनाता है, बल्कि साथ मिलकर बात करता है। इस किताब में सात अध्याय हैं, हर अध्याय एक अलग सवाल उठाता है और हर सवाल हमें झकझोरता है। कृष्णकुमार इन सवालों के ज़रिए स्कूल में पढ़ने-पढ़ाने के तरीकों, 'पढ़ाई' व 'पढ़ना' को लेकर आम समाज की धारणा और इस धारणा के नफा-नुकसान के बारे में सिलसिलेवार तरीके से बात करते हैं।

उनकी भाषा में तल्खी है लेकिन वह चुभती नहीं बल्कि एक वाजिब फिक्र पैदा करती है जिससे पढ़ने वाले की पेशानी में बल पड़ते हैं कि 70 साल बाद भी हम शिक्षा के कई

बुनियादी मसलों को सुलझा नहीं पाए हैं या यूँ कहें कि समझ ही नहीं पाए हैं।

कृष्णकुमार की कला

कृष्णकुमार उन विरले लेखकों में से हैं जिनका लिखा हुआ अकादमिक, गैर-अकादमिक, कथा-प्रेमी, शिक्षक, विद्यार्थी, सभी को समान रूप से रुचता है। इसका एक कारण तो यह समझ में आता है कि वे लिखने में शब्दों की बड़ी किफायत बरतते हैं, सीधी-सच्ची बात कहते हैं और दूसरा, अपनी बात कहने के लिए वे कोई दूर की कौड़ी खोजने नहीं जाते बल्कि एक नज़दीक का और बहुत जाना-पहचाना वाकया या अनुभव लेकर आते हैं। वे सिर्फ लिखने के लिए नहीं लिखते बल्कि उनके लिखने में सच्चा सरोकार, कसक और भोगा हुआ यथार्थ मिलता है।

उदाहरण के लिए, इस किताब की भूमिका के एक अंश से हम इस बात को समझ सकते हैं कि उनकी बात कितनी पैनी और कहन कितना सरल व प्रभावी है। वे लिखते हैं कि "जो पढ़ नहीं सकते, उन्हें अनपढ़ कहकर हम ऐसे लोगों के लिए कोई शब्द नहीं छोड़ते जो पढ़ सकते हैं, मगर पढ़ते नहीं। उनसे भी बड़ी संख्या में वे लोग हैं जो पढ़ते हैं, पर समझते नहीं।" यह पुस्तक इन्हीं दो समस्याओं के बारे में है - पहली, पढ़ने की आदत का अभाव और दूसरी, समझने की चिन्ता किए बगैर पढ़ते जाना। जिस लहज़े में कृष्णकुमार अपनी बात रखते हैं, वह कटाक्ष लग सकता है पर वह इतना सच्चा, प्रत्यक्ष और चिन्ता से लबरेज़ होता है कि हम उसके साथ हो लेते हैं।

समस्याओं के बारे में बात करते हुए वे न तो खुद उलझते हैं और न पाठक को उलझने देते हैं, उनके उदाहरण, प्रतीक और बिम्ब ठेठ देसी होते हैं। जिन दो समस्याओं का ज़िक्र कृष्णकुमार अपनी भूमिका में करते हैं, उनके बारे में आगे लिखते हुए वे एक कमाल का चित्र खींचते हैं। वे लिखते हैं कि "दोनों की जड़ यह पुस्तक शिक्षा प्रणाली में तलाशती है। जड़ मूसला भी है और झकड़ा भी। मूसला जड़ गहरे धँसी होती है और झकड़ा जड़ मिट्टी के एक बड़े दायरे में फैली रहती है।"

किस बात की चिन्ता है?

उनकी चिन्ता हर बार यही दिखाई देती है कि 70 साल में भी हम पढ़ने-लिखने को लेकर अपनी साधनवादी सोच के दायरे से बाहर नहीं आ सके हैं। 'पढ़ने' से लगी हुई 'सोचने' की समस्या है जो कहीं ज़्यादा गम्भीर है। पढ़ना और सोचना एक जागृत समाज के लिए सरोकार बनाने के बुनियादी विषय हैं लेकिन इस पर हमारी प्रगति इतनी धीमी है कि वह कुछ न होने के बराबर है।

अपने पहले ही अध्याय 'पढ़ना,

बचपन और साहित्य' में कृष्णकुमार पढ़ने की ललक और उद्देश्य के बीच रस्साकसी का बहुत ही सरलता से खुलासा करते हैं। पाठ्यपुस्तकों और परीक्षा-केन्द्रित हमारी शिक्षा प्रणाली ने अपने लिए पढ़ने, आनन्द के लिए पढ़ने, फुरसत से पढ़ने, रुककर, ठहरकर, इत्मीनान से पढ़ने जैसे सच्चे सुख छीन लिए हैं। कृष्णकुमार के शब्दों में, "पढ़ने का एक उद्देश्य इस सुख या आनन्द की तलाश है जो केवल साहित्य दे सकता है।" लेकिन हम अच्छी तरह जानते हैं कि साहित्य को लेकर आम समाज और स्कूल का क्या रवैया है। बचपन तो इससे पूरी तरह महरूम है। साधनवादी दृष्टिकोण पढ़ने को उपयोगिता, काम आने, मिलने वाले फायदे और ज्ञान में बढ़ोत्तरी के फॉर्मूले से ही देखता है। यही कारण है कि पढ़ना सिर्फ पढ़ना भर रह जाता है ताकि वह परीक्षा में काम आ सके। साहित्य इस खाँचे में फिट ही नहीं बैठता।

'पढ़ना और पढ़ाई' अध्याय में यह बात और साफ हो जाती है। 'पढ़ाई' एक खास उद्देश्य के लिए ही पढ़ना है और ज़ाहिर है, बहुतायत यह उद्देश्य कक्षा में सवालों के जवाब दे पाना, परीक्षा में नम्बर लाना, जानकारी हासिल करना या प्रतियोगिता की तैयारी करना ही है। इसमें महससू करना, लेखक से रूबरू होना, रुककर सोचना, विचार करना, अपनी सोच या दृष्टि शामिल करना, राय बनाना सर्वथा वर्जित है। कृष्णकुमार कहते हैं कि "इस नज़रिए से देखने पर उपन्यास या संस्मरण जैसी

विधाएँ बेकार साबित होंगी।" साहित्य को फुरसत की, और अतिरिक्त चीज़ मानकर उसके साथ बेगाना बर्ताव करने वाला समाज और स्कूल दरअसल, एक पूरी पीढ़ी को जीवन और उसके मानवीय आयाम से काट रहा होता है। कृष्णकुमार के शब्दों में, "बच्चों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपना वक्त ऐसी चीज़ों में खर्च करें जो उन्हें जीवन में आगे बढ़ने में मददगार हों। इस उम्मीद का दबाव किशोरों में बहुत है।"

'वाचन और पाठ' अध्याय में वे स्कूल संसार की एक और विडम्बना की ओर इशारा करते हैं। पाठ पढ़ना और बार-बार उसका वाचन करना स्कूलों में एक मज़बूत परम्परा है। इस मशीनी प्रक्रिया के पीछे यह सोच है कि पाठ में निहित एक निश्चित अर्थ, उसे बार-बार पढ़ने या वाचन करने से वह पाठक में ट्रांसमिट हो जाएगा। इसमें अपने मन से अर्थ लगाने या खुद से अर्थ गढ़ने की कोई गुंजाइश नहीं है। इसलिए वाचन पर इतना ज़ोर दिया जाता है। चुपचाप इत्मीनान से पढ़कर उसे अपने स्तर पर समझने के लिए जो अभ्यास, अवकाश और खुद के यत्न व उत्कण्ठा की ज़रूरत है, स्कूल उसकी मोहलत शायद ही किसी बच्चे को देता हो।

डिजिटल दुनिया की चुनौतियाँ

अपने चौथे अध्याय 'पढ़ना सोचना और डिजिटल ज़माना' में कृष्णकुमार एक नई चुनौती की तरफ इशारा करते हैं जो तेज़ गति से पढ़ने, खूब सारा फटाफट पढ़ लेने और एक-साथ कई तरह की सामग्री पढ़ने के संजाल से उत्पन्न हुई है। कृष्णकुमार यहाँ स्पष्ट करते हैं कि "चुपचाप बैठकर एक कहानी या उपन्यास को काफी तेज़ गति से पढ़ा जा सकता है। पर यदि हम विज्ञान या भूगोल के बारे में कोई लेख पढ़ रहे हैं तो हम जल्दी-जल्दी नहीं पढ़ सकते। कविता और नाटक की पटकथा पढ़ते हुए भी हमें धीरे-धीरे चलना पड़ता है।"

शिक्षा में यदि सिर्फ पढ़ना शामिल है और सोचना नदारद है तो तरह-तरह की सामाजिक दुर्घटनाएँ होना लाज़मी है। किसी की बात समझे बिना उस पर प्रतिक्रिया

दाग देना, पढ़कर अर्थ का अनर्थ कर बैठना, किसी बात के मर्म से वंचित रहना और पढ़ते वक्त दसियों अन्य बातों पर ध्यान जाने देना, इसी तेज़ रफ्तार से और सामग्री के सैलाब में पढ़ने का नतीजा है।

जिस समीक्षाई चेतना या क्रिटिकल थिंकिंग की आज शिक्षा-जगत में बड़ी चर्चा और संजीदा फिक्र है, उसके लिए पढ़ने की प्रक्रिया में इसका तत्व शामिल करना अब बड़ा कठिन हो चला है। यह कठिनाई, रफ्तार को अतिशय महत्व देने के कारण बनी है। डिजिटल माध्यमों ने इसे और जटिल बना दिया है। कुछ शोध तो साफ तौर पर कहते हैं कि "गहन रूप से पढ़ना, जो समीक्षाई सोच को सम्भव बनाता है - डिजिटल माध्यमों के आदी विद्यार्थियों में विकसित करना मुश्किल पाया गया है।" हालाँकि, कृष्णकुमार यह भी कहते हैं कि "जानकारी हासिल करने, ज़्यादा-से-ज़्यादा लोगों तक उसकी पहुँच बनाने आदि के लिए डिजिटल माध्यमों की अनदेखी नहीं की जा सकती। सूचनापरक लाभ के लिए डिजिटल माध्यमों पर पढ़ सकना, साहित्यिक अनुभव और संज्ञानात्मक विकास के लिए पारम्परिक माध्यम, जैसे किताब को धीरे-धीरे ध्यान देते हुए पढ़ना, ये दोनों ही ज़रूरी हैं।"

हार्ड-स्टडी

पाँचवें अध्याय 'पढ़ने का माहौल' में कृष्णकुमार स्कूलों के भयावह वातावरण का ज़िक्र करते हैं जिसमें अन्धाधुन्ध पढ़ाई, खूब मेहनत, दिन-रात की लगन और तरह-तरह के कोचिंग और ट्यूशन की घेराबन्दी है। कृष्णकुमार लिखते हैं कि "नर्सरी और प्राइमरी कक्षाओं के समय से ही बच्चे पढ़ाई की इस निर्मम संस्कृति में

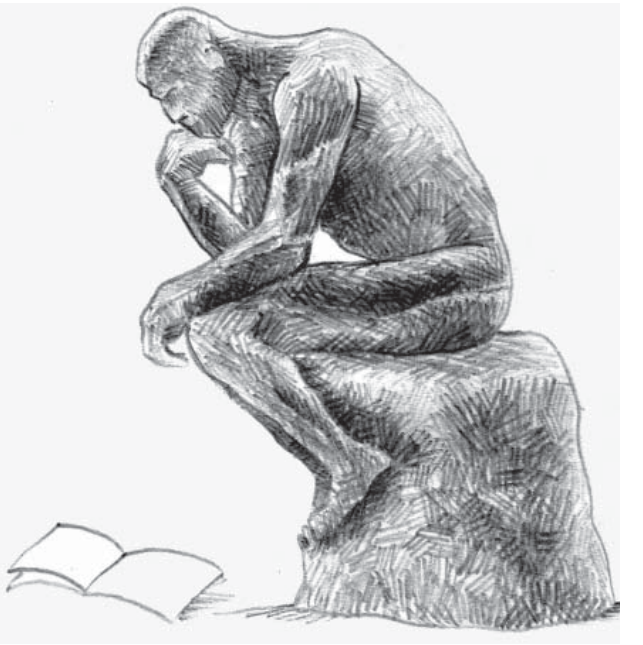

धकेल दिए जाते हैं। बड़े होने के क्रम में वे इस 'पढ़ाई' की संस्कृति में डूबने लगते हैं, और दसवीं-बारहवीं तक आते-आते आकण्ठ डूब चुके होते हैं। उनकी आन्तरिक या स्व-स्फूर्त प्रेरणा मर चुकी होती है।" कृष्ण कुमार कहते हैं कि "इस विकराल परिस्थिति का एक इलाज साहित्य है। बाल साहित्य बच्चों के जीवन में पढ़ाई के इस वर्चस्व को चुनौती दे सकता है। वह 'पढ़ाई' की जगह 'पढ़ने' के माहौल की माँग करता है। ऐसा माहौल स्कूल और समाज, दोनों ही बना सकते हैं। यह कठिन है लेकिन दुसाध्य नहीं।"

छटे अध्याय 'अर्थ कहाँ से आता है?' में कई सारे उदाहरणों के मार्फत बहुत ही रोचक ढंग से कृष्णकुमार इस अर्थ के 'आने' को खोलते हैं। किसी पढ़े हुए को अर्थ देने में पाठक की सक्रिय भूमिका है। जीवन से जोड़ पाना, पात्रों और घटनाओं से तादात्म्य बना पाना और इस तरह उसके भीतर उतर जाना या उसकी चेष्टा करना ही अर्थ की रचना कही जा सकती है। पर यदि हम किसी वजह से खुद को ऐसा कर पाने से रोक रहे हों तो समझ में आना या अर्थ का आना नहीं हो पाएगा। भूख, डर, पढ़ पाने का संघर्ष, अक्षरों को जोड़ने की यांत्रिक प्रक्रिया, अर्थ लगाने का दबाव – कुछ ऐसे तत्व हैं जो इस अर्थ के बनने की राह में सबसे बड़े अवरोध हैं। फिर अध्यापक द्वारा अर्थ बताए जाने का नियमित अभ्यास एक और दुर्घटना है। और विडम्बना यह कि इसे ही असल पढ़ाई कहा जाता है।

कृष्णकुमार ने इस अध्याय में रोज़मर्रा के जीवन-अनुभवों के साथ-साथ कुछ कहानियों और कविताओं के माध्यम से 'अर्थ के आने' और 'अर्थ के बनने' की मीमांसा बहुत ही रोचक तरीके से की है। अर्थ बनाने के कौशल के लिए शुरुआती दिनों से साहित्य का सानिध्य ही एकमात्र रास्ता है। पाठ्यपुस्तकें अपना काम करें लेकिन साथ ही साथ साहित्य अपनी राह बनाता चले। कहीं दोनों रास्ते मिलें तो सोने पर सुहागा, नहीं तो अपना-अपना रास्ता जैसी स्थिति भी भली ही है।

क्या है अच्छा बाल साहित्य?

साहित्य की वकालत करते समय इस सवाल से दो-चार होना आम बात है कि "अच्छा बाल साहित्य किसे कहें?" अन्तिम और सातवें अध्याय 'अच्छा बाल साहित्य किसे मानें?' में *गुलिवर की यात्राएँ* किताब की दो कहानियों के माध्यम से वे इस चर्चा को खोलते हैं। कृष्णकुमार लिखते हैं कि "गुलिवर या सिन्दबाद की यात्राएँ काल्पनिक ही हैं लेकिन लेखक हर अनुभव और उससे पैदा होने वाले भाव को विस्तार से बताकर ऐसा यथार्थ बोध पैदा करता है जिसकी ताकत से बड़ा भी अपने बचपन में लौट जाए। कौतूहल, डरने का रोमांच

और उसके खत्म होने की खुशी, दुनिया को उलट-पुलट देखने की अथक चाह और चीज़ों को बार-बार बिगाड़कर दुबारा बनते देखने का सुख। ये कहानियाँ इसलिए सर्वकालिक हैं क्योंकि ये बच्चों की स्वाभाविक इच्छाओं का प्रतिबिम्ब पेश करती हैं।"

परन्तु प्रचलित सवाल तो साहित्य से मिलने वाली सीख का है। यह बहुत ही हैरान और हताश करने वाला सवाल है। ऐसे में साहित्य से मनोरंजन हासिल होने वाला तर्क भी कुछ राहत देता हुआ प्रतीत नहीं होता। कृष्णकुमार के शब्दों में "सीख और मनोरंजन के ये कटघरे प्रायः बाल साहित्य के चयन के आधार की चर्चा को रोककर खड़े हो जाते हैं। सीख और मनोरंजन के अलावा भी साहित्य की चर्चा के लायक अनेक आयाम हैं।" कल्पना और विचार ऐसे दो आयाम हैं जिन्हें हम न तो सीख की श्रेणी में रख सकते हैं और न मनोरंजन की।

साहस और रोमांच के साथ ही एहसास की परतें टटोलने में साहित्य राह देता है। साहित्य में दोस्ती, प्रेम, संघर्ष, डर, दुविधा, सफलता-असफलता, खुशी, अभाव के सिरे खुलते हैं। कौन है जो सामान्य जीवन के इन सिरों से परिचित न होगा? साहित्य से क्या होगा, यह साधनवादी दृष्टिकोण से बता पाना बड़ा मुश्किल है। साहित्य पढ़ने और पढ़ने की आदत डाल लेने से बचपन में हम मनुष्य की दुनिया के निरन्तर फैलते हुए नक्शे का मानस बना पाते हैं, ऐसा कहना पर्याप्त है।

तक्षशिला के जुगनू प्रकाशन से आई यह किताब हम सबको पढ़नी चाहिए। इसका एक-एक अध्याय एक मुकम्मल चर्चा है जो नई नज़र देता है और शिक्षा के दायरे में अपने समय की बुनियादी बातों को समझने का तार्किक आधार देता है। मात्र 65 पन्नों में ऐसी सारगर्भित सामग्री कम ही पढ़ने को मिलती है, तिस्पर चन्द्रमोहन कुलकर्णी की बनाई हुई मानवाकृतियाँ इसे एक मानवीय स्पर्श और दार्शनिक फ्लेवर देती हैं।

अनिल सिंह: पिछले 25 वर्षों से सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय हैं। विगत डेढ़ दशक से प्राथमिक शिक्षा उनका प्रमुख कार्य रहा है। भोपाल के आनंद निकेतन डेमोक्रेटिक स्कूल की संकल्पना के दिनों से वे जुड़े रहे हैं और उसका संचालन किया। वर्तमान में टाटा ट्रस्ट के पराग इनिशिएटिव से जुड़कर बाल साहित्य और पुस्तकालय संवर्धन का काम कर रहे हैं।

सभी चित्र: सौम्या मैनन: चित्रकार एवं एनिमेशन फिल्मकार। विभिन्न प्रकाशकों के साथ बच्चों की किताबों एवं पत्रिकाओं के लिए चित्र बनाए हैं। बच्चों के साथ काम करना पसन्द करती हैं।